लेख

मुगल शहज़ादी-जहांआरा और ज़ेब-उन-निसा

रज़ा रूमी

शहज़ादी जहांआरा

दिल्ली का इतिहास अधिकतर पुरुषों द्वारा चलाई जाने वाली सल्तनतों और मुगल शासकों की सत्ता और सरपरस्ती से रचा-बुना है। इसमें औरतों की अदृश्यतता व्याप्त है, सिवाय एक-दो नामों के जैसे रज़िया सुल्तान और नूरजहां। इस पितृसत्तात्मक समाज में औरतें यदा-कदा ही सत्ता और राजनीति के उच्च पदों पर आसीन हुई हैं। जहां तक नूरजहां का सवाल है वे फ़ारसी थीं और स्थानीय भारतीय मुगल शासन में उनकी सत्ता परिवार के पुरुष रिश्तेदारों के माध्यम से हासिल की गई थी। जैसे-जैसे जहांगीर शराब और नशे की लत के चलते सत्ताहीन होते गये वैसे-वैसे नूरजहां ने शासन की बागडोर थाम ली।

लगभग आधी सदी तक गुमनाम रहने के बाद मुगल दरबार में शहज़ादी जहांआरा सत्ता के केंद्र में नज़र आई। जहांआरा अपने वालिद शाहजहां की मुख्य हमराज़ बनीं। बेगम मुमताज़ महल के देहान्त के बाद जहांआरा को शाही घराने में एक अहम भूमिका अदा करने का मौका मिला। दिलचस्प बात यह है कि शाहजहां की सबसे पहली सन्तान जहांआरा की सार्वजनिक भूमिका उनके आध्यात्मिक और सूफ़ी झुकाव के कारण थी। अपने भाई दारा शिकोह की तरह जहांआरा भी कादरी सूफ़ी, मिंया मीर से प्रेरित रहीं। वे चिश्ती संत निज़ामुद्दीन औलिया और ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की भी बड़ी मुरीद थीं। कहा जाता है कि शहज़ादी जहांआरा एक बार भीषण आग की चपेट में आ गई थीं। ठीक होने पर वे अजमेर शरीफ़ गई और ख्वाजा का दरगाह पर ज़ियारत करके उन्हें अपना जीवन बचाने के लिए शुक्रिया अदा किया। इसी दौरान एक शाम रवानगी के दौर में उन्होंने मज़ार के चारों और संगमरमर का दालान बनाने का आदेश दिया जिसे आज *बेगमी दालान* के नाम से जाना जाता है। इंतकाल के बाद शहज़ादी का मकबरा भी निज़ामुद्दीन चिश्ती की मज़ार के करीब बनाया गया।

संत्रहवी सदी की एक व्यक्तिगत और प्रखर आवाज़ है जहांआरा लिखित *रिसाला-ए-साहिबिया* जिसमें उनके आध्यात्मिक सफ़र, नज्में और राजनैतिक विरासत का लेखा जोखा है। अपने दौर में जहांआरा ने कला और साहित्य को भी बहुत बढ़ावा दिया। शाहजहां के शासन काल में शहज़ादी जहांआरा ने सूफ़ी आध्यात्मक को अपने आध्यात्मिक रूझान के साथ जोड़कर खुद को एक सार्वजनिक वैधता प्रदान की। सूफ़ी रिवाजों के चलते पर्दे की परम्परा में भी ढिलाई देखी जा सकती थी जहां एक कुंवारी मुगल शहज़ादी की पहचान सूफ़ी संस्कृतिक और धार्मिक विरासत को आगे ले जाने में स्वीकार की गई थी।

शहज़ादी जहांआरा अपने वालिद के प्रति वफ़ादार रही और मरने से पहले उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति ख्वाजा मोइनुद्दीन की दरगाह के नाम लिख दी थी। औरंगज़ेब ने इस विरासत के एक-तिहाई हिस्सा ही दरगाह को दान में दिया।

उनका मकबरा उनके शान्त और शालीन व्यक्तित्व का पुख्ता सबूत है। मकबरे के ऊपर कोई छत नहीं है- कहा जाता है कि वे चाहती थीं कि उनका शरीर खुले आकाश के नीचे दफ़न किया जाये। मकबरे पर दर्ज इबारत कहती है—

मेरी कब्र को सब्ज़ घास के बीच दफ़न होने दो
यही तो है मज़लूमों के हौसलों का सबूत।

★★★

शहंशाह औरंगज़ेब की बेटी ज़ेब-उन-निसा एक कला प्रेमी, शायरा और रचनात्मक तबियत वाली महिला थीं। अपने वालिद की सबसे बड़ी बेटी होने के नाते उनका रुतबा सबसे अलहदा था। माता दिलरास बानो 'सफ़ाविद' फ़ारसी शहज़ादी

ज़ेब-उन-निसा की कब्र

थीं और औरंगज़ेब ने बड़े स्नेह के साथ उनका नाम ज़ेब-उन-निसा जिसका अर्थ है- औरतों का ज़ेवर' रखा था।

अपने वालिद की प्रिय होने के कारण शुरूआत से ही मुगल दरबार से शहज़ादी का परिचय हो चुका था। इसके अलावा उन्हें कला, भाषा, विज्ञान और खगोल विज्ञान की शिक्षा भी हासिल थी जिसने उसे एक संवेदनशील व जागरूक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था। ज़ेब-उन-निसा ने आजीवन विवाह नहीं किया और खुद को शायरी और सूफ़ी आध्यात्म में रमाए रखा।

विडम्बना यही थी— औरंगज़ेब की यह बेटी अपने पिता से बिल्कुल अलग थी। उनका स्वभाव और सोच दोनों ही अपने पिता से विपरीत और अपरम्परागत थी। एक उम्दा शायरा होने के नाते वे नज़्में और कविताएं लिखा करती थीं पर चूंकि यही बात औरंगज़ेब को पसंद नहीं थी इसलिए उन्होंने अपनी शायरी एक 'पेन-नेम' मक्फ़ी- यानी 'अदृश्य' या जो नज़र न आए के नाम के तहत लिखी।

ज़ेब-उन-निसा ने एक बागी स्वभाव पाया था— वे सांस्कृतिक और साहित्यक महफ़िलों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती थीं हालांकि समय के रिवाज के अनुसार वे पर्दे की प्रथा का पालन अवश्य करती थीं।

अपने फिरकापरस्त वालिद के धर्म और समाज से जुड़ी पारम्परिक सोच को वे अपनी कलम के माध्यम से लगातार चुनौती देती थीं। उनकी शायरी और लेखों में मुहब्बत, आज़ादी और उन्मुक्तता का ज़ज़्बा साफ झलकता था। अपनी एक नज़्म में वे लिखती हैं—

मैं फारसी मुहब्बत की लैला तो हूं
पर मेरा दिल मजनू की तरह उन्मुक्त प्यार करता है
मैं सेहरा में भटकना चाहती हूं
पर शर्म की बेड़ियां पांवो में पड़ी हैं।
मुझे मुहब्बत की बातों में नफ़ासत हासिल है
तभी तो पतंगा भी मेरा शार्गिद बना है।

ज़ेब-उन-लिखा ने 400 गज़लें लिखीं जिसमें उन्होंने कट्टरवादी समाज और राज्य के ख़िलाफ़ अपने जज़बात व्यक्त किये।

कहा जाता है कि ज़ेब-उन-निसा के अनेक प्रेमी थे पर इन बातों के पुख्ता सबूत नहीं मिलते। ईरानी शायर अशरफ़ के साथ उनकी नज़दीकी के कुछ किस्से ज़रूर मिलते हैं पर दावे के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भी बताया जाता है कि वे अपनी एक कनीज़, मिंया बाई से बहुत अधिक प्यार करती थीं और उसी को उन्होंने लाहौर का *चौबुर्ज़ी बाग* तोहफ़े में दिया था।

प्रचलित कहानियों में से एक किस्सा जो इस मुगल शहज़ादी की दरियादिली और कोमल व्यक्तित्व पर रोशनी डालता है के अनुसार ज़ेब-उन-निसा काफ़ी खूबसूरत थीं और पिता औरंगज़ेब ने एक बहुत नायाब शीशा उन्हें तोहफ़े में दिया था। शहज़ादी रोज़ इस आइने में अपनी सूरत निहारती थी। एक दिन गलती से किसी कनीज़ से यह आईना टूट गया। पर ज़ेब-उन-निसा इस पर नाराज़ नहीं हुई। उन्होंने बांदी को समझाते हुए कहा कि वे खुश है कि "चापलूसी का यह साधन" अब उनके पास नहीं है और वे अब अपनी खूबसूरती से अलग होकर खुदा की ज़ियारत पूरे दिल से कर सकती हैं।

ज़ेब-उन-निसा के आध्यात्मिक झुकाव से बेशक औंरगज़ेब खुश नहीं था परन्तु शहज़ादी ने खुद को अपने पिता के राजनैतिक फ़ैसलों और शासन से पूरी तरह अलग रखा। 1681 में औरंगज़ेब के विद्रोही बेटे अकबर के साथ लगातार सम्पर्क में रहने और पत्राचार करने के आरोप में उन्हें दिल्ली के किले में कैद रखा गया जहां वे अपनी मौत तक रहीं।

जादूनाथ सरकार बताते हैं कि ज़ेब-उन-निसा को काबुली गेट के बाहर, तीस हज़ारी बाग में दफ़नाया गया था। पर कुछ समय बाद ताबूत को आगरा के सिकंदरा मकबरे के पास दोबारा दफ़नाया गया। उनकी कब्र पर लिखी इबारत इस कलाविद् और अदृश्य शहज़ादी के जीवन पर कुछ और रोशनी डालती है—

"खूबसूरती, गरिमा, शिक्षा और कला का ये झरना क्यों कहीं खो गया— जब सबने पूछा तो आवाज़ आई— अरे चांद भी तो कहीं छुप गया है।"

***रज़ा रूमी,** पाकिस्तानी पत्रकार व लेखक हैं।*